International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science (IJEMMASSS)
ISSN : 2581-9925, Impact Factor: 6.882, Volume 05, No. 01(III), January - March, 2023, pp. 335-342

भारतीय राजनीति में सांप्रदायिकता का विकास (1885–1920)

प्रकाश कुमार*

सार

सांप्रदायिकता वह विचारधारा है, जिसके आधार पर सांप्रदायिक राजनीति खड़ी होती है और सांप्रदायिक विचारधारा सांप्रदायिक हिंसा को जन्म देती है। सांप्रदायिकता एक आधुनिक संकल्पना है, जो एक ऐसे सामाजिक सिद्धान्त की व्याख्या करता है, जिसमें व्यक्तिगत हितों की बजाय सामुदायिक हितों पर जोर दिया जाता है। विपिन चन्द्र का मानना है कि सांप्रदायिकता के तीन चरण होते हैं और उनमें निरंतरता रहती है। पहले चरण में धर्म आधारित सामाजिक और राजनीतिक समुदायों की धारणा का जन्म होती है, जबकि दूसरे चरण में यह माना जाता है कि एक धर्म के अनुयायियों के लौकिक हित दूसरे धर्म के अनुयायियों के लौकिक हितों से अलग होते हैं। यह दूसरा चरण उदार सांप्रदायिकता का चरण कहलाता है, क्योंकि सांप्रदायवादियों की आस्था उदारलोकतंत्रवादी और राष्ट्रवादी मूल्यों में होती है। तीसरे चरण में उग्रवादी सांप्रदायिकता का जन्म होता है और इस चरण में यह मान लिया जाता है कि विभिन्न संप्रदायों के हित न केवल अलग होते हैं, बल्कि एक–दूसरे के विरोधी भी हैं। भारत में साम्प्रदायिकता के विकास के लिए खास तौर पर ब्रिटिश साम्राज्य की 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति जिम्मेदार थी, लेकिन यह भी सही है कि ब्रिटिश नीति को सफलता हमारी आंतरिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण ही मिल सकी। सांप्रदायिकता उन महत्वपूर्ण हथियारों में एक थी, जिनके माध्यम से अंग्रेजी हुकुमत ने बढ़ते हुए राष्ट्रीय आंदोलन और एक राष्ट्र के रूप में एकजुट होती हुई भारतीय जनता के विरोध का मुकाबला कर सके और उसकी शक्तियों को कमजोर कर सके। अंग्रेजी सत्ता ने सांप्रदायवादियों को प्रोत्साहित ही किया और सांप्रदायवादियों ने अपने अनुयायियों को गोलबंद करने के लिए धार्मिक नारों एवं प्रतीकों का इस्तेमाल किया। राष्ट्रीय चेतना का प्रसार करने के लिए लोगों में धार्मिक प्रतीकों के इस्तेमाल ने राष्ट्रीय आंदोलन में एक अस्पष्ट सा हिन्दूवादी पूट का समावेशन आ गया, जिससे दोनों समुदायों के मन में एक दूसरे के प्रति संदेह का वातावरण उत्पन्न हुआ, जिसका दीर्घकालीक परिणाम बहुत ही भयावह साबित हुआ। यह कहना एकदम सटीक होगा कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में धार्मिक क्षेत्रों में अपनी अभिव्यक्ति पाई।

शब्दकोशः *सांप्रदायिक, मुस्लिमलीग, हिन्दू महासभा, कांग्रेस, औपनिवेशिक शासन, पृथक निर्वाचक मंडल, धर्मनिरपेक्षता, अलीगढ़ कॉलेज।*

प्रस्तावना

साम्प्रदायिकता एक आधुनिक संकल्पना है और यह एक ऐसे सामाजिक सिद्वांत की व्याख्या करता है, जिसमें व्यक्तिगत हितों की बजाय सामुदायिक हितों पर जोर दिया जाता है। इस संकल्पना के अनुसार समुदाय का अस्तित्व इसके सदस्यों के व्यक्तिगत हितों की प्रतिपूर्ति के लिए ही होता है। फलस्वरूप व्यक्तिगत हितपूर्ति,

* सहायक आचार्य (जी.टी.), इतिहास विभाग, जी.डी. कॉलेज, बेगूसराय, बिहार।

सामुदायिक हितपूर्ति में ही निहित है। सांप्रदायिकता एक समुदाय के आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक हितों को दूसरे समुदाय के हितों से न सिर्फ अलग बल्कि प्रमुख भी मानती है, फलस्वरूप समुदायों के मध्य विवाद को प्रबल आशंका बनी रहती है।[1] विपिन चन्द्र का मानना है कि ''साम्प्रदायिकता के मुख्यतः तीन चरण होते हैं और उनमें एक प्रकार की निरंतरता होती है। इस क्रम में पहला चरण इस विश्वास का है कि एक ही धर्म के मानने वाले लोगों के आर्थिक–सामाजिक और आर्थिक एवं सांस्कृतिक हित भी एक जैसे ही होते हैं। इस क्रम में धर्म आधारित सामाजिक, राजनीतिक समुदायों की धारणा का जन्म होता है और यह साम्प्रदायिकता विचारधारा के उदय का पहला आधार बनता है।[2] साम्प्रदायिक विचारधारा का दूसरा चरण उदार साम्प्रदायिकता का चरण कहलाता है। इस चरण के अन्तर्गत यह माना जाता है कि भारत जैसे बहुभाषी समाज में एक धर्म के अनुयायियों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हित दूसरे धर्म के अनुयायियों के लौकिक हितों से अलग होते हैं, हलाँकि साम्प्रदायवादियों की आस्था उदारलोकतंत्रवादी और राष्ट्रवादी मूल्यों में होती है साथ ही विभिन्न समुदायों के अलग–अलग सांसारिक हित होते हुए भी विभिन्न साम्प्रदायिक हितों को परस्पर समाहित किया जा सकता हैं और इस प्रकार भारत को एक राष्ट्र बनाया जा सकता है।[3] साम्प्रदायिकता का तीसरा चरण तब आता है, जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धार्मिक समुदायों के हित एक–दूसरे के विरोधी होते हैं। इस तीसरे चरण में उग्रवादी साम्प्रदायिकता का जन्म होता है, जो मूल रूप से उग्रवादी और हिंसक तौर–तरीकों में विश्वास रखता है। विपिन चन्द्र का मानना है कि ''साम्प्रदायिकता ही वह विचारधारा है'' जिसके आधार पर साम्प्रदायिक राजनीति खड़ी होती है और साम्प्रदायिक विचारधारा साम्प्रदायिक हिंसा को जन्म देती है। भारत में साम्प्रदायिकता के ये तीनों चरण अलग–अलग समय पर आए और वे एक–दूसरे को प्रभावित भी करते रहे लेकिन उनमें एक प्रकार की निरंतरता भी बनी रही।[4] डब्ल्यू0 सी0 स्मिथ के अनुसार साम्प्रदायिकता एक विचारधारा है जो हर धर्म के अनुयायी समुह की सामाजिक–राजनीतिक–आर्थिक इकाई पर बल देती है तथा उनके विभिन्नता एवं ऐसे अनुयायी समुहों के आपसी विरोध को उजागर करती है।[5]

डी0ई0 स्मिथ साम्प्रदायिकता को अत्यंत नकारात्मक मानते हैं। इनके अनुसार साम्प्रदायिकता सामान्यतः किसी भी धार्मिक समुह के संकीर्ण, विभाजक, उग्र एवं स्वार्थी व्यवहार से जुड़ी हुई है।[6] ज्ञानेन्द्र पांडे के अनुसार, ''साम्प्रदायिकता विभिन्न धार्मिक समुदायों में डर, संदेहास्पद, शत्रुता और द्वेष की स्थिति है।''[7]

साम्प्रदायिकता पर इतिहास लेखन

भारत में साम्प्रदायिकता के इतिहास लेखन से संबंधित प्रमुख रूप से तीन प्रकार के दृष्टिकोण हैं – (1) कैंब्रिज स्कूल का दृष्टिकोण, (2) राष्ट्रवादियों का दृष्टिकोण और (3) सबाल्टर्न स्कूल का दृष्टिकोण।

- **कैंब्रिज स्कूल** :– इस विचारधारा के अन्तर्गत आने वाले प्रमुख विद्वान हैं – अनिल सील, फ्रांसिस राविंसन, गार्डन जानसन हैं। इनका मत है कि भारत में साम्प्रदायिकता का विकास मध्ययुगीन युग में हिन्दु–मुस्लिम प्रतिस्पर्द्धा एवं एक–दूसरे से घृणा के कारण हुआ। कैंब्रिज स्कूल के अनुसार भारत में विभिन्न धार्मिक समुदायों में विभाजन के लिए ब्रिटिश सरकार की नीति (फूट डाला–शासन करो) उत्तरदायी नहीं थी, बल्कि भारत में विभिन्न समुदायों में पूर्व से ही अलग– अलग स्तरों पर विभाजक तत्व विद्यमान थे। इस प्रकार विभाजनकारी प्रवृति भारतीय समाज की एक स्थायी विशेषता रही है।[8] इस स्कूल का यह भी मानना है कि भारत में राष्ट्रवाद पैदा ही नहीं हुआ एवं स्वतंत्रतापूर्व भारत की राजनीति सिर्फ सत्ता प्रदत्त और सत्ता केन्द्रित ही थी जो जाति और धर्म जैसी संकीर्ण पहचानों का प्रयोग करने में जरा भी हिचकिचाती नहीं थी।

- **राष्ट्रवादी विचारधारा** :– कैंब्रिज स्कूल के विपरीत राष्ट्रवादी विचारकों का स्पष्ट मत है कि भारत में साम्प्रदायिकता औपनिवेशिक शासन की देन है। राष्ट्रवादी विचारकों में प्रमुख नाम विपिन चन्द्र, रोमिला थापर, मुशीरूल हसन और सर्वपल्ली गोपाल का आता है।

रोमिला थापर ने अपनी पुस्तक 'साम्प्रदायिकता और प्राचीन भारत का इतिहास' में लिखा है कि 'भारत के प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास में साम्प्रदायिक पहचान का कोई अस्तित्व नहीं था।' विपिन चन्द्र के अनुसार

आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता के विकास के लिए औपनिवेशिक शासन तथा उसकी विभाजनकारी नीतियों विशेष रूप से उत्तरदायी थी। मामला यह था कि राज्य के हाथ में जितनी शक्ति थी उसका इस्तेमाल या तो राष्ट्रीय एकता को बढ़ाने के लिए किया जा सकता था, या फिर विभिन्न तरह की विघटनकारी शक्तियों को बढ़ावा देने के लिए। ब्रिटिश सरकार ने दूसरा रास्ता चुना।[9]

- **सबाल्टर्न स्कूल** :– प्रमुख सबाल्टर्न विचारकों में सुमित सरकार, पार्था चटर्जी, रणजीत गुहा और ज्ञानेन्द्र पांडे हैं। सबार्ल्टन स्कूल कैंब्रिज स्कूल के इस मत को स्वीकार करता है कि भारत में जाति, धर्म आदि आधारों पर संकीर्णता हैं, परन्तु यह संकीर्णता हर समाज में मौजूद होती है। ज्ञानेन्द्र पांडे के अनुसार, कैंब्रिज स्कूल का यह मानना कि भारत में साम्प्रदायिकता भारतीय समाज का अभिन्न अंग है, जो कुछ सीमा तक सही है, लेकिन साम्प्रदायिकता, घृणा और कट्टरता भारत की तुलना में यूरोपीय समाज में अधिक स्तर तक विद्यमान है।[10] सबाल्टर्नस राष्ट्रवादी स्कूल की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि राष्ट्रवादी यह मानते हैं कि विभिन्न समुदायों के सदस्यों में सांप्रदायिकता का जन्म आर्थिक ईर्ष्या के कारण हुआ है। सबाल्टर्न स्कूल के विचारक ज्ञानेन्द्र पांडे इस बात से सहमत नहीं है।[11] इसके अतिरिक्त सबाल्टर्न स्कूल इन दोनों स्कूलों (कैंब्रिज स्कूल और राष्ट्रवादी विचारधारा) की आलोचना इस आधार पर भी करता है कि ये स्कूल अपने अध्ययन का केन्द्र अभिजात्य वर्गो को मानते हैं न कि हाशिए पर स्थित वर्गों और जनता को।

आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता का विकास

भारतीय संदर्भ में देखा जाए तो साम्प्रदायिकता एक आधुनिक परिघटना है। सल्तनत या मुगलकाल में हिन्दु–मुसलमान साम्प्रदायिक दंगों का विवरण प्रमुख रूप से नहीं मिलता। मध्यकाल में हिन्दु एवं मुसलमानों के सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन में आपसी सहयोग था एवं कई शताब्दियों तक एक–दूसरे के साथ रहने के कारण दोनों समुदायों में काफी समानता आ चुकी थी।[12]

विविनचन्द्र का मानना है कि भारत में साम्प्रदायिकता एवं राष्ट्रवाद दोनों एक जैसी आधुनिक प्रक्रिया की उपज है। देश की बढ़ती हुई आर्थिक, राजनीतिक एवं प्रशासनिक एकीकरण ने इन दोनों प्रक्रियाओं (साम्प्रदायिकता और राष्ट्रवाद) को बढ़ावा दिया, जो मूलतः आधुनिक घटनाएँ है।[13] रणधीर सिंह भी विपिन चन्द्र के इस मत का समर्थन किया है और कहा है कि ''साम्प्रदायिकता का जन्म राष्ट्रवाद के संतुलन के साथ सामानांतर प्रक्रिया में हुआ।''[14] अंग्रेजों के भारत आगमन के समय भारत के शासन और सार्वजनिक जीवन में मुसलमानों का बहुत महत्वपूर्ण स्थान था, और अपना अधिपत्य जमाने के लिए अंग्रेजों के लिए यह अत्यंत आवश्यक हो गया था कि मुसलमानों को कमजोर किया जाए और इसी कारण अंग्रेजों ने 1857 के आंदोलन को मुसलमानों का षड्यंत्र माना। काफी उच्चवर्गीय मुस्लिम परिवारों के प्रभुत्व को जहाँ विद्रोह हुआ था, वहाँ से समाप्त कर दिया गया। बहुत से मुस्लिमों ने अपनी भूमि एवं सम्पत्ति खो दी, जिसके कारण वे गरीब और दुःखी हो गए।[15]

अंग्रेजी शासन और आरंभ किए गए सुधारों विशेषकर पाश्चात्य शिक्षा और औपनिवेशिक शासन द्वारा दी गयी सुविधाओं के कारण हिन्दुओं में राष्ट्रीय चेतना का उद्भव हो रहा था। हिन्दुओं में बढ़ रही राष्ट्रीय चेतना के कारण औपनिवेशिक शासन भयभीत हो गया, फलस्वरूप अंग्रेजों ने मुस्लिम अभिजात्य वर्गो से मित्रता का हाथ बढ़ाना शुरू किया। अंग्रेजो ने साम्प्रदायिकता का प्रयोग हिन्दु–मुस्लिम एकता को नष्ट करने तथा अपना शासन कायम रखने के लिए किया।[16] अंग्रेजों ने ऐसी ऐसी नीतियाँ अपनाई जिससे हिन्दु और मुसलमानों में आपसी घृणा और फूट पैदा हो जाए और वे कभी एक न हो पाएँ।[17] औपनिवेशिक शासन ने मुसलमानों की ''ऐतिहासिक महत्ता' और उनकी सहायता की आवश्यकता देखते हुए उनके लिए विशेष सुविधाओं का समर्थन किया।[18]

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बढ़ते आधार को कमजोर करने के लिए ही औपनिवेशिक सत्ता ने मुस्लिम अभिजात्य वर्गो के नेताओं के साथ बैठकर 1906 में 'मुस्लिम लीग' का गठन करवाया। अर्चवोल्ड ने उस प्रतिनिधि मंडल और सरकार के मध्य विचौलिये की भूमिका निभाई।[19] औपनिवेशिक सत्ता का स्पष्ट मत था कि

भारत न तो एक राष्ट्र है और न राष्ट्र के रूप में उसका विकास हो रहा है, और भारत का गठन स्पष्ट रूप से धर्म आधारित ऐसे समुदायों से हुआ है, जिनके हित ना सिर्फ अलग हैं बल्कि वे एक दूसरे के विरोधी भी हैं। ब्रिटिश शासन ने साम्प्रदायिकता को सरकारी संरक्षण दिया और साम्प्रदायिकता नेताओं और उनकी मांगों के प्रति अत्यंत सहानुभूति दिखाई। साम्प्रदायिक माँगों को तुरंत स्वीकार कर लिया जाता था। जैसे 1906 में मुस्लिम लीग की माँगों को तात्कालीन वायसराय द्वारा तुरंत स्वीकार कर लिया गया। अंग्रेजों ने हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों को अलग–अलग समुदायों का दर्जा दिया और कहा कि उनकी सामाजिक–राजनीतिक पहचान में कुछ भी साझा नहीं है। 1909 में मार्ले–मिंटो योजना के तहत मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल बनाया गया। इस प्रकार साम्प्रदायिक आधार पर बनाए गए चुनाव क्षेत्रों ने साम्प्रदायिक राजनीति के विकास में महत्वपूर्ण औजार का काम किया।[20]

पुनः अंग्रेजी शासक वर्गो ने भारत में साम्प्रदायिकता बढ़ाने के लिए भारतीय इतिहास को साम्प्रदायिक खाँचे में बांटना आरंभ किया। जेम्स मिल ने प्राचीन काल और मध्यकाल को क्रमशः 'हिन्दु युग' तथा 'मुस्लिम युग' का नाम दिया। परिणामस्वरूप हिन्दु साम्प्रदायवादियों ने यह मान लिया कि मध्यकालीन मुस्लिम शासक हिन्दु विरोधी थे, इस प्रकार साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने मध्यकालीन भारतीय इतिहास को हिन्दु–मुस्लिम विवाद का एक युग घोषित कर दिया। फलतः मुस्लिम साम्प्रदायिकतावादियों द्वारा इसकी प्रतिक्रिया स्वभाविक थी और उनके अनुसार अंग्रेजों के भारतीय रंगमंच पर आगमन के पश्चात् उनकी राजनीतिक सत्ता छिन जाने के बाद एक समुदाय के रूप में मुसलमानों का पतन हुआ और हिन्दु आगे निकल गए।[21]

ब्रिटिश औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था एवं इसके द्वारा उत्पन्न पिछड़ेपन ने भी साम्प्रदायिकता के विकास में अपना भरपूर योगदान दिया। औपनिवेशिक शासन और शोषण के कारण भारतीय समाज विभाजित हुआ जो समुदायों के बीच कलह को और भी तीव्र किया। 1929 के विश्वव्यापी मंदी के कारण आर्थिक अवसर सीमित हो गए और भारी संख्या में लोग बेरोजगारी हो गए। फलस्वरूप नौकरियों में प्रतिद्धंदिता काफी बढ़ गई। अपने निजी संघर्ष को एक विस्तृत आधार देने के लिए तथा अपनी निजी सफलता को बढ़ाने हेतु जाति, भाषा, प्रांत, धर्म जैसी पहचानों का सहारा लिया गया। इससे साम्प्रदायिकता और बढ़ गयी।[22]

भारत में साम्प्रदायिकता की शुरूआत तक मानी जाती है, जब 1880 के दशक में सर सैयद अहमद खाँ ने कांग्रेस और इसके नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति अपना विरोध जताया था। वे और कुछ अन्य मुस्लिम नेता कांग्रेस को हिन्दुओं की प्रतिनिधि संस्था मानते थे। उल्लेखनीय है कि 1892–1902 के मध्य कांग्रेस में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व मात्र 6.59 प्रतिशत था।[23] आरंभ में सर सैयद अहमद खाँ का मानना था कि ''राष्ट्र विभिन्न प्रकार के राजनैतिक अधिकारों के पात्र समुदायों का एक संघ है और ये अधिकार उनकी वंशावलियों और राजनैतिक महत्व पर निर्भर होते हैं और भूतपूर्व शासक वर्ग का होने के नाते मुसलमानों का ब्रिटिश साम्राज्य में विशिष्ट स्थान है। लेकिन कांग्रेस की बढ़ती लोकप्रियता के कारण ही उन्होंने कांग्रेस का यह कहकर विरोध किया कि वह ब्रिटिश विरोधी और अलोकतांत्रिक पार्टी है। उन्होंने इस बात का प्रचार किया कि यदि भारत में ब्रिटिश सत्ता की विदाई हो गयी और सत्ता भारतीय को हस्तांतरित कर दी गयी तो निःसंदेश हिन्दु, मुसलमानों पर शासन करेंगे। उनके विचारों के पीछे अलीगढ़ कॉलेज के पहले तीन प्रिंसिपल थियोडोर बैक, मॉरिसन और अर्चबोल्ड का हाथ था। अलीगढ़ आंदोलन ने मुसलमानों के मन में ब्रिटिश क्राउन के प्रति राजभक्ति की भावना भरी और उन्हें भारतीय राजनैतिक जीवन से दूर रहने की प्रेरणा दी। अगस्त 1888 में सैयद अहमद खाँ ने यूनाइटेड इंडियन पेट्रियोटिक एसोसिएशन की स्थापना की जिसका स्पष्ट उद्देश्य कांग्रेस के प्रचार को निष्फल बनाना तथा मुस्लिम लोगों को कांग्रेस से दूर करना था।[24] सैयद अहमद खाँ तथा साम्प्रदायिक निष्ठावान व्यक्तियों ने अपने राजनीतिक कार्यकलापों को मूलतः मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से दूर रखने तक ही सीमित रखा। उन्होंने कोई विरोधी साम्प्रदायिक संगठन नहीं बनाए, क्योंकि अंग्रेज भारतीय लोगों के किसी भी राजनीतिकीकरण पर नाखुशी जाहिर करते थे। लेकिन एक बार जब बंगाल–विभाजन–विरोधी आंदोलन से भारतीय जनसामान्य के बीच राजनीति का प्रवेश हो गया तो अंग्रेज सरकार को सांवैधानिक रियायतें देने के लिए मजबूर होना पड़ा और इस प्रकार साम्प्रदायवादियों को राजनीतिक कार्यक्षेत्र में प्रवेश की अनुमति मिल गयी।

1906 में स्थापित मुस्लिम लीग ने बंगाल के विभाजन का समर्थन किया और मुसलमानों के लिए अलग से निर्वाचक क्षेत्रों और सरकारी नौकरियों में आरक्षण की जोरदार माँग की। इसके कार्यकलापों को कांग्रेस और हिन्दुओं के खिलाफ प्रेरित किया गया, न कि ब्रिटिश शासन के विरूद्ध। इस प्रकार आरंभ से ही मुस्लिम लीग राष्ट्रीय आंदोलन विरोधी और औपनिवेशिक शासन का अवलंब बन गयी।[25]

1916 में कांग्रेस और लीग के मध्य एक समझौता हुआ जिसे लखनऊ पैक्ट कहा जाता है। यद्यपि कांग्रेस ने मुसलमानों और हिन्दुओं के लिए पृथक निर्वाचक मंडल वाली व्यवस्था को मान लिया, परन्तु उसके गंभीर परिणामों को आंकने में वह विफल रही थी, 1919 के कानून ने उसे भारतीय संविधान में स्थान देकर मार्ले–मिंटो द्वारा दृष्कृत्य पर पुष्टि की मुहर लगा दी थीं यह जहर बहुत शीघ्र भारतीय राजदंड के शरीर में व्याप्त हो गया और भारत के दोनों ही सम्प्रदायों के लिए उसके शोचनीय परिणाम हुए।[26]

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् रौलेट एक्ट के विरोध और खिलाफत एवं असहयोग आंदोलन के दौरान राष्ट्रवादी धारा मजबूत हुई और हिन्दु–मुस्लिम एकता के नारों से समूचा राजनीतिक – सामाजिक आकाश गुंजायमान होने लगा, जो कि क्षणिक ही सिद्ध हुआ। तुर्की के प्रश्न पर ब्रिटेन के प्रति आक्रोश ने मुसलमानों को हिन्दुओं के नजदीक ला दिया था। मुहम्मद अली का मानना था कि संसार के मुसलमानों के लिए खिलाफत एक महत्वपूर्ण संस्था है और तुर्की के प्रति उनकी निष्ठा धार्मिक है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् तुर्की साम्राज्य का अंत कर दिया गया और उसके अंत का तात्पर्य होता, मुसलमानों को अंतर्राष्ट्रीय एकता के प्रतीक ''खिलाफत का अंत''। अतः अली बंधु और अन्य सर्व–इस्लामी नेता इस संकट की घड़ी में गाँधी जी से सहायता की आशा कर रहे थे। मोहम्मद शाकिर ने लिखा है कि मुहम्मद अली ने सर्व–इस्लामवाद के प्रचार के लिए खिलाफत का अनुचित लाभ उठाया।[27]

दूसरी ओर गाँधी जी ने इसे हिन्दु मुसलिम एकता बढ़ाने और गौ–रक्षा के लिए एक अच्छा अवसर समझा। भले ही खिलाफत के प्रश्न से भारत का कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था, फिर भी गाँधी जी ने खिलाफत आंदोलन का नेतृत्व स्वीकार किया। वायसराय के लिखे पत्र में गाँधी जी ने भारत के लिए स्वशासन और खिलाफत समस्या का न्यायपूर्ण समाधान को ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण बताया।[28]

एम0आर0 वेग का कहना है कि ''कांगेस–खिलाफत गठबंधन केवल सुविधा पर आधारित था। दोनों पक्षों ने भारत को बहुराष्ट्रीय देश माना और यदि गाँधी ने सर्व–इस्लामियत को अखिल भारतीय उद्देश्यों के लिए प्रयोग करने का प्रयास कया, तो अली बंधुओं ने अखिल भारतीयता को सर्व–इस्लामी उद्देश्यों के लिए उपयोग किया। जब इस स्वांग का अंत हुआ तो वे अपने सही वेश में आ गए। अली–बंधुओं के लिए गाढ़ा हरा रंग और गाँधी के लिए पीला केसरिया रंग''।[29]

खिलाफत आंदोलन निःसंदेश ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ था, लेकिन इसका उद्देश्य पूरी तरह से धार्मिक था और कांग्रेस द्वारा इस आंदोलन का समर्थन करना राजनीति में धर्म के घुसपैठ को वैद्यता प्रदान कर दिया। इसके गंभीर परिणाम भविष्य में दृष्टिगोचर हुए। पुनः राष्ट्रवादी नेतृत्व मुसलमानों की धार्मिक–राजनीतिक चेतना को धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक चेतना में नहीं तब्दील कर सका। खिलाफत आंदोलन के नेता धर्म के नाम पर अपील करते, फतवाएँ जारी करते और धार्मिक औजारों का भरपुर इस्तेमाल करते थे, फलस्वरूप पुराणपंथ की पकड़ और भी मजबूत होती गई और सभी राजनीतिक प्रश्नों की धार्मिक चश्में से देखने की आदत पड़ गई। इस आंदोलन के पश्चात् हिन्दु और मुसलमान दोनों बदल चुके थे। मुसलिम सांप्रदायिकता के आवेग में हिन्दु सांप्रदायिक संगठनों को और भी सशक्त बना दिया। आर्य समाज और महासभा ने हिन्दुओं को भी उत्तेजित कर दिया और मुसलिम विरोधी बना दिया जो पहले मुसलिम–विरोधी नही थे। इस प्रकार मुसलिम साम्प्रदायिकता के साथ ही साथ हिन्दु साम्प्रदायिकता का भी जन्म हो रहा था। 1870 के दशक के आरंभ से ही हिन्दु साहुकारों, जमींदारों तथा मध्यम स्तर के व्यवसायियों ने इस्लाम विरोधी नारे लगाना आरंभ कर दिया था। उन्होंने मध्यकालीन भारतीय इतिहास को ''अत्याचारी मुस्लिम शासन' के नाम से प्रचारित किया और इस प्रकार से उन्होंने भारतीय इतिहास की उपनिवेशी मनोवृत्ति को

पूरी तरह से स्वीकार कर लिया। उत्तर प्रदेश और बिहार में उन्होंने हिन्दी के प्रश्न को भी उठाया और हिन्दी को हिन्दुओं तथा उर्दू को मुसलमानों की भाषा बताया और इस प्रश्न को सांप्रदायिक रंग दे दिया। 1890 के दशक के पूर्वार्द्ध से पूरे भारत में ''गोवध विरोधी प्रचार'' किया जाने लगां

1907 में ''पंजाब हिन्दु महासभा'' की स्थापना हुई। हिन्दु सांप्रदायिक विचारधारा और राजनीति की नींव यू0एन0मुखर्जी और लालचंद जैसे आरंभिक हिन्दू साम्प्रदायिक नेताओं ने रखी थी। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा चलाए जा रहे आंदोलन, जिसने एक राष्ट्र के रूप में भारतीयों को संगठित करने के प्रयास के लिए तथा मुसलमानों के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया।[30]

1909 के अधिनियम के लागू होने के पश्चात हिन्दू सांप्रदायिकता ने गंभीर रूप धारण कर लिया। पंजाब में हरेक विषय (आर्थिक या राजनीतिक) साम्प्रदायिक बन गया, जिससे दोनों समुदायों में तनाव की स्थिति अत्याधिक गंभीर हो गई। अप्रैल 1915 को हिन्दु महासभा का प्रथम अधिवेशन हुआ। इस सम्मेलन में हिन्दु एकता और समाज सुधार पर बल दिया गया। सम्मेलन के प्रमुख विषय जाति–व्यवस्था का बहिष्कार, निम्नवर्गो का उद्वार, विधवा विवाह प्रमुख थे। महासभा के नेताओं ने हिन्दी को भारत को राष्ट्रभाषा घोषित किया। इतना करने के बाद भी हिन्दु महासभा मुस्लिम लीग की अपेक्षा धीरे–धीरे आगे बढ़ रही थी। इसका सबसे प्रमुख कारण यह था कि मुस्लिम समाज कें अभिजात वर्गीय लोगों (जमींदार) तथा उलेमाओं का प्रभाव अधिक था जबकि हिन्दुओं में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के कारण वैज्ञानिक दृष्टिकोण और राष्ट्रीयता की ओर झुकाव बढ़ रहा था।

20वीं शताब्दी के आरंभ में अधिकांश राष्ट्रीय चिंतन पर हिन्दुवादी रंग और इसके प्रचार ने भी सांप्रदायिकता की वृद्धि में प्रभावशाली रूप से सहयोग दिया। इस हिन्दुवादी फूट के कारण मुसलान राष्ट्रीय आंदोलन से विमुख होने लगे और वे साम्प्रदायिक रूझान की तरफ आकृष्ट होते गए। अनेक राष्ट्रवादी नेताओं ने राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार करने के क्रम में राष्ट्रीयता को ''हिन्दुत्व के पुनरूत्थान'' के साथ मिला दिया। तिलक ने शिवाजी उत्सव और गणेश पूजा की शुरूआत की थी, वह लोगों में राष्ट्रीयता के प्रचार–प्रसार के लिए ही थी। कुछ अन्य लोगों ने भारतमाता को भारतीयता से अभिन्न माना, प्राचीन भारतीय संस्कृति का गुणगान किया। बंकिमचन्द्र और अन्य बंगाली हिन्दू लेखकों ने अपने उपन्यासों, नाटकों में मुसलमानों को विदेशी के रूप में देखा। पुनः हिन्दी प्रतीकों और मुहावरों के प्रयोग के कारण राष्ट्रीय आंदोलन में एक अस्पष्ट हिन्दु वातावरण का समावेशन हो गया। वस्तुतः राष्ट्रीय आंदोलन मूलतः अपनी विचारधारा और दृष्टिकोण में धर्मनिरपेक्ष ही था और युवा मुस्लिम राष्ट्रवादियों को इसे स्वीकार करने में तथा राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल होने में ज्यादा समस्या नहीं हुई। हिन्दुत्व का यह आवरण साम्प्रदायिकता को बढ़ाने के लिए उत्तरदायी नहीं है, जितना कि इसकी वृद्धि पर रोक लगाने में राष्ट्रवादियों की असफलता के लिए उत्तरदायी है[31] और मुस्लिम साम्प्रदायवादियों ने मुसलमानों को आतंकित करने एवं उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन के विरूद्ध करके इसका इस्तेमाल किया। इस प्रकार उन्होंने मुसलमानों में यह भावना भरी कि राष्ट्रीय आंदोलन को सफलता का अर्थ होगा, देश में ''हिन्दुओं का अधिपत्य'' स्थापित होना होगा। इस हिन्दुत्व के रंग ने हिन्दु साम्प्रदायिकता के लिए भी वैचारिक द्वार खोल दिये और हिन्दू साम्प्रदायवादियों को राष्ट्रीय आंदोलन से दूर रखना मुश्किल कर दिया।

1920 ई0 तक हिन्दू महासभा मृतप्रायः ही रही इसमें पुनर्जीवन 1923 ई0 में आया। जब असहयोग आंदोलन को वापस लिया गया और जनसामान्य में निराशा फैल गई ऐसी स्थिति में अवसर मिलते ही साम्प्रदायवाद का अपना वीभत्स चेहना सामने आया। 1923 के पश्चात् देश में बार–बार साम्प्रदायिक दंगे हुए और साम्प्रदायिक भावनाओं का प्रसार हुआ। मुस्लिम लीग को भी पुनर्जीवन मिला और यहाँ तक कि राष्ट्रीयतावादी भी प्रबल धर्मनिरपेक्ष और अर्द्धसाम्प्रदायिक घटकों में विभाजित हो गए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किस प्रकार साम्प्रदायिकता ने भारतीय राजनीति में न केवल अपनी उपस्थिति दर्ज करवाई बल्कि उसकी जड़े भी गहरी होती गयी।

मूल्यांकन

यह एक स्थापित तथ्य है कि भारत में साम्प्रदायिकता के जन्म और विकास के लिए औपनिवेशिक शासन एवं उसकी विभाजनकारी नीतियाँ उत्तरदायी थी। आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति एवं विकास विशेष सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों का परिणाम थी। एक बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए कि भारत में साम्प्रदायिकता की प्रेरणा धर्म ने कदापी नहीं दी और साथ ही न साम्प्रदायिक राजनीति धार्मिक उत्थान ही चाहती थी, उन्होंने धर्म का प्रयोग राजनीति में किया और इस प्रकार उनके लिए धर्म एक मात्र औजार था। साम्प्रदायवादियों ने अपने अनुयाययियों को गोलबंद करने के लिए धर्म का प्रयोग किया और 1939 के पश्चात् विशेषरूप से 1945–47 के दौरान लोगों के बीच साम्प्रदायिकता ने अपनी जड़े तभी जमा सकी जब उसने ''धर्म खतरे में है'' जैसे उत्तेजक नारे लगाना शुरू किया।

उच्चवर्गीय मुसलमानों ने 1919 और 1935 के अधिनियमों के जरिए जो राजनीतिक रियायतें प्राप्त की। उससे उन्हें अपनी साम्प्रदायिक पहचान बनाने में आसानी हो गयी। वहीं दूसरी ओर कांग्रेस ने जनसाधारण में राष्ट्रीयता की भावना एवं चेतना लाने के लिए धार्मिक प्रतीकों का इस्तेमाल किया, फलस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन में एक अस्पष्ट सा हिन्दू धार्मिकता का समावेशन हो गया, जिसने दोनों समुदायों के मन में संदेह पैदा किया और इसका दीर्घकालीक परिणाम बहुत ही भयावह साबित हुआ। यह कहना एकदम सटीक होगा कि भारत में राष्ट्रीय आंदोलन ने धार्मिक क्षेत्रों में भी अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त की। अतः धर्मनिरपेक्षता का तकाजा यह है कि धार्मिकता के आवेग को कम किया जाए तथा धर्म की भूमिका लोगों के निजी जीवन तक ही सीमित रखा जाए।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डब्ल्यु0 सी0 स्मिथ, मार्डम इस्लाम इन इंडिया, लंदन, 1946, पृ0 157
2. विपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2002, पृ0 319
3. वही, पृ0 319–320
4. वही, पृ0 320–321
5. ज्ञानेन्द्र पांडे, द कंसट्रक्शन ऑफ कम्यूनिलिज्म, दिल्ली, 1990, पृ0 8
6. डी0ई0स्मिथ, इंडिया एज ए सेक्यूजर स्टेट, प्रिसंटन, 1963, पृ0 454
7. ज्ञानेन्द्र पांडे, पूर्वोक्त, पृ0 8
8. सी0ए0बैली, ''द प्री हिस्ट्री ऑफ कम्यूनिलिज्म, रीलिजियस कान्फलिक्ट्स इन इंडिया, 1700–1860,'' मार्डन एशियन स्टडीज 19(2), 1985
9. विपिन चन्द्र, पूर्वोक्त, पृ0 321
10. ज्ञानेन्द्र पांड, पूर्वोक्त, पृ0 236
11. वही, पृ0 236
12. सतीश चन्द्र, पार्टीज एंड पालिटिक्स एट दि मुगल कोर्ट, 1707–1740, दिल्ली, 1972, पृ0 26
13. विपिन चन्द्र, आधुनिक भारत का इतिहास और साम्प्रदायिकता, दिल्ली, 2004, पृ0 26
14. रणधीर सिंह, ''थियोराइजिंग कम्युनिलिज्म'', इकोनोमिक एण्ड पालिटिकल वीकली, जुलाई 1988, पृ0 1541–1548
15. जोया हसन, ''कम्युनल एंड कम्युनल वायलेंस इंडिया'' सोशल साइंटिस्ट वॉल्यूम–101, 2 फरवरी, 1982, पृ0 26
16. डब्ल्यू0सी0 स्मिथ, पूर्वोक्त, पृ0 77–79

17. अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति संग्राम, दिल्ली, 1977, पृ0 210–220
18. मुशीरूल हसन, नेशनलिज्म एण्ड कम्यूनल पॉलिटिक्स इन इंडिया, दिल्ली, 1979, पृ0 119
19. बी0एल0 ग्रोबर, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास, एस0 चांद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 2003, पृ0 422
20. विपिन चन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, उपरोक्त, पृ0 319
21. वही, पृ0 330–331
22. वही, पृ0 25
23. शेखर वंदोपाध्याय, पलासी से विभाजन तक आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वान, दिल्ली, 2013, पृ0 331
24. बी0एल0 ग्रोबर, यशपाल, पूर्वोक्त , पृ0 420
25. सत्या एम0 राय, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 2000, पृ0 487
26. ताराचंद, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, खंड–3, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण विभाग, भारत सरकार, 2017, पृ0 505
27. सत्या एम0राय , पूर्वोक्त, पृ0 255
28. वही, पृ0 255
29. वही, पृ0 256
30. वही, पृ0 488
31. वही, पृ0 490–491.

❖◆❖